सत्यांश

साहित्य की राजनीति होती है और राजनीति का साहित्य होता है। स्वयं साहित्य में भी राजनीति होती है। राजनीति और साहित्य - दोनों समाज के नियामक-दर्पण हैं, व्यक्ति-समाज के लिए दोनों की अहमियत है। ऐसे में यदि ये एक-दूसरे के पूरक हो रहे हैं(?) तो कठिनाई क्या है? दिक्कत कुछ भी नहीं है, यदि साहित्य अपने वास्तविक स्वरूप में हो और राजनीति भी सही रूप में हो। लेकिन विशेष कर भारत में राजनीति अपने मूल स्वरूप से विच्छिन्न होकर, मूलभूत सरोकारों से भटक कर छल-छद्म, घटियागिरी, कुटिलता व कुत्सित राजनीति की पहचान बनती जा रही है, इसी प्रकार साहित्य अपने गहरे, बृहद एवं सदुद्देश्यों से विलग होकर ज्ञान व मनोरंजन के बौद्धिक प्रपंचों, चलताऊ भ्रमजालों, जड़ताओं की नवीनता का पर्याय बन रहा है। इसी कारण राजनीति की कुत्सा साहित्य में आयात हुआ है। साहित्य के सरोकारों में भारी गिरावट आई है। राजनीति का साहित्य भी 'राज-दर्शन' का साहित्य न होकर सतही स्वार्थपूर्ति का जरिया बन रहा है।

पहचानने का प्रयत्न करें कि साहित्य में राजनीति की कैसी और कौन सी नकारात्मक प्रवृत्तियाँ हावी हुई हैं तो स्पष्ट दिखाई देगा कि दलीय दर्शन की खेमेबंदी-गुटबंदी, लॉबिंग, पद-पुरस्कार-सम्मान के लिए तिकड़म, समितियों-अकादमियों पर कब्जा कर अपनों को उपकृत करना, नियुक्ति में संवेदनात्मक धांधली, कोरे बौद्धिक अहंकार के कारण किसी को चढ़ाना-गिराना, किसी खास धड़ेबाजी वाली चीज को ही प्रकाशित करना-करवाना, पुस्तकों-पत्र-पत्रिकाओं की खरीद-बिक्री में भेदभाव, पाठ्यक्रम बनाने में वस्तुनिष्ठता-निष्पक्षता-उदारता की अवहेलना, व्यक्तिगत आक्षेप-आलोचना, ब्लैकमेलिंग, दूसरों से लिखवाकर अपने नाम छपवाना जैसे उदहारण हैं जो वर्तमान साहित्य-समाज को दूषित बना रहे हैं। जहाँ ऐसी घटिया प्रवृत्ति होगी, वहाँ साहित्य अपने उत्तम उद्देश्य मानवता के सर्वांगीण उन्नयन का आधार कैसे तैयार करेगा। अन्य क्षेत्रों की पतनोन्मुखता को संभालने की जिम्मेवारी भी साहित्य पूरा कर सकता था; परंतु वह खुद संकटग्रस्त है। राजनीति में राजनीति का कोई भी रूप खप जाता है, लेकिन साहित्य में समाज, राष्ट्र व मानव मात्र की उन्नति का दर्शन ही शोभा देगा। कुटिल व घटिया राजनीति को अपने में मिलाने से साहित्य निरर्थक हो जाएगा। उदारता, सहिष्णुता, सामंजस्य, चेतना, परिमार्जन, परिवर्द्धन, सर्वकल्याण आदि साहित्य की प्रवृत्तियाँ हैं, जिसे राजनीति का कुत्सित पक्ष कुंद करता है।

साहित्य का क्षेत्र व उद्देश्य व्यापक है, उसे राजनीति, वह भी सतही स्वार्थ स्तर की, भला अपनाने की क्या अनिवार्यता है? क्या साहित्य और साहित्यकार कुत्सित-कुटिल राजनीति को अपनाए बिना अपनी प्रासंगिकता बनाए नहीं रख सकते। वस्तुतः यह प्रश्न तब उठेगा, जब ऐसा करने की हिम्मत हो। जिस किसी ने भी ऐसा साहस किया है, वह अपनी उपयोगिता की विजय सिद्ध कर चुका है। आजकल लोग शॉर्ट-कट रास्ता अख्तियार कर जल्दी सफलता प्राप्त कर लेना चाहते हैं, जिसकी बाजारू-उपभोग की दृष्टि में अधिक मूल्य है। साहित्यकार-आलोचक भी कुछ ऐसी ही प्रवृत्ति के शिकार हैं, फलतः उनका तात्कालिक लक्ष्य तो पूरा हो जाता है, पर साहित्य और साहित्यकार का दीर्घकालिक अहित हो जाता है। ऐसे लेखन में उथली विचारधारा, खेमेबंदी की मजबूत पकड़, बौद्धिक भ्रम, गतिशील जड़ता, प्रतिभा का दिशाहीन या गलत दिशा की ओर प्रयाण और पाठ का कुपाठ दिखाई देता है। ऐसे लेखन से कृति, कृतिकार, समाज का न तो सही स्वरूप बोध होता है, और न मानवता का उच्चतम उन्मेष। इससे भ्रम फैलता है, विषय का बोध गलत दिशा में जाता है और पाठक दिग्भ्रमित हो जाता है। पाठक की अपनी चेतना-धारा का विकास-प्रवाह नहीं हो पाता। ऐसे साहित्य से बचे रहने पर कम-से-कम कुपाठ का प्रभाव नहीं होगा और मूल पाठ के सही बोध के प्रति स्वचेतना जागृत होने की संभावना बनी रहेगी।

आजकल साहित्य के नाम पर लिखी जा रही सामग्री को साहित्य कहने में भी संकोच होता है। लेकिन साहित्य आलोचना के क्षेत्र में कुछ खास तरह के लोगों के प्रभावी रहने और उनके खास तरह के लेखन को ही प्रभुत्व देने के कारण ऐसे लेखन की प्रवृत्ति बढ़ी है। ऐसा साहित्य न तो ज्ञानपरक है और न शिक्षापरक और न मनोरंजक सुरुचि जागृत करने वाला ही। जो भी हो, साहित्य की क्षुद्र राजनीति करनेवालों की संख्या ही अधिक है, जो कामुक-कामी प्रवृत्ति उजागर करके इसकी कामना जागृत करते हैं व धन-पुरस्कार के लिए ही लिखते हैं, जहाँ लेखन-क्षमता का दुरुपयोग ही अधिक होता है। इसी प्रकार साहित्यकार का गुण समदर्शन है, खेमेबंदी नहीं, जहाँ सदैव चेतना के विकास की संभावना होनी चाहिए। इसके लिए मन-मस्तिष्क में किसी प्रकार की गुटीय दीवार नहीं होनी चाहिए। किसी पद, समिति, नियुक्ति और पाठ्यक्रम में शामिल होना भी साहित्य का प्रयोजन नहीं होता। निःसंदेह बाद में स्वाभाविक रूप से ऐसा हो जाए तो ठीक है, लेकिन ऐसी मंशा के तहत साहित्य की रचना श्रेष्ठ नहीं हो सकती।

साहित्य के लिए राजनीति नहीं, बल्कि ओछी राजनीति चिंतनीय है। साहित्य की रचना या सृजन एवं पुनर्रचना या पुनर्सृजन होता है। रचनाकार या सर्जक यदि ओछी-क्षुद्र राजनीति के वशीभूत होकर सर्जना करेगा तो कैसी रचना होगी, इसका क्या प्रभाव होगा - यह भी शोचनीय होगा। जब साहित्य मानव एवं प्राणिमात्र ही नहीं, वरन् प्रत्येक जड़-चेतन के हित की चिंता का विषय है, वहाँ क्षुद्र राजनीतिक स्वार्थों के लिए जोड़-तोड़, गुटबंदी, चापलूसी, धांधली, संकीर्ण सोच द्वारा साहित्य और साहित्यकार कौन-सा मानक विकसित करेगा, उसका अपना, पाठक व समाज का क्या भला होगा?